श्रीरूपेन्द्रकुमार पगारिया, न्यायतीर्थ

सप्तभंगी

जैनधर्म जितना आचार-जगत् में गहरा उतरा है, विचार-जगत् में भी उतना ही गहरा उतरा है. जन्म और मृत्यु जैसे विकट संकट से सर्वथा मुक्ति पाने के लिए साधक के जीवन में आचारशुद्धि और विचार शुद्धि दोनों की आवश्यकता है. आचार और विचार दोनों एक दूसरे के पूरक हैं. एकान्तक्रियावाद की पगडण्डी पर चलने वाला साधक सही विचार के अभाव में अपने गंतव्य स्थल पर नहीं पहुँच सकता. विशुद्ध आचार को समझने के लिए तत्त्व-ज्ञान की आवश्यकता होती है. जब तक साधक को पदार्थ के सही स्वरूप का ज्ञान नहीं हो जाता तब तक वह कितनी ही क्रिया की गहराई में क्यों न गया हो, ज्ञान के अभाव में उसकी साधना की सफलता में सन्देह ही रहता है. उसे तत्त्व-ज्ञान रूप दीपक की आवश्यकता है. इसी दीपक से सहारे वह अपने गंतव्य स्थल पर पहुँच सकता है.

वस्तु की अनन्तधर्मात्मकता:— किसी भी वस्तु के सच्चे ज्ञान के लिए उसके सही स्वरूप को जानना नितान्त आवश्यक है. वस्तु अनन्तधर्मात्मक है. हमारा ज्ञान ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता जाता है त्यों-त्यों अज्ञात धर्म ज्ञात होते जाते हैं. वस्तु का पूर्ण ज्ञान होना ही सर्वज्ञता है. भौतिक विज्ञान पदार्थ के पर्यायों की खोज करता है. उसके गुण-धर्मों को बताता है. उसमें कौन-कौन सी प्रक्रियाएँ होती हैं, यह भी बताता है. तत्त्वज्ञान ऐसा नहीं करता. वह तो पदार्थ के गुणों को स्वीकार करके ही आगे बढ़ता है. इन वस्तुओं के गुणधर्मों का पदार्थ के साथ कैसा सम्बन्ध है, यह बताने का काम तत्त्व-ज्ञान का है. वस्तु में अगणित गुण-धर्म होते हैं, जिनमें कुछ तो ज्ञात होते हैं, कुछ अर्धज्ञात और कुछ अज्ञात. ऐसी अवस्था में यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति में कठिनाई अवश्य सामने आती है.

इस कठिनाई के कारण तत्त्वज्ञान के इतिहास में अनेक संशयवादों का जन्म हुआ है. दार्शनिक तत्त्व-विचार में संशयवाद लम्बे समय तक नहीं टिक सकता. उसका समाधान कहीं न कहीं निकल ही आता है. जो लोग यह कहते हैं कि सत्य हमेशा अज्ञात रहता है, उनका यह कथन भी निर्णीत सत्य ही तो है. भगवान् महावीर ने अपने समय के एकांतवादों को खण्डित सत्य कहा. उन खण्डित सत्यों के एकीकरण के लिए उन्होंने समन्वयात्मक एवं सापेक्ष दृष्टि रखी. यही व्यापक दृष्टि तत्त्व-चिंतक साधक को सत्य की ओर ले जाती है.

सत्य विशाल, व्यापक, अखण्ड और अनन्त होता है, परन्तु सामान्यतः मानव का परिमित ज्ञान उसे सम्पूर्ण रूप में जान नहीं पाता, खण्डरूप में अथवा अनेक अंशों में ही वस्तु का ज्ञान कर पाता है. सत्य के परिज्ञान के लिए अथवा ज्ञात सत्य को जीवन में उतारने के लिए व्यापक दृष्टिकोण की आवश्यकता है.

व्यष्टि, समष्टि और परमेष्ठी-जीवन विकास की यह क्रमपद्धति है. जैनदर्शन की सत्योन्मुखी अनेकान्तदृष्टि, जैनधर्म का सर्वसहिष्णु अहिंसासिद्धांत और जैन परम्परा का चिरागत समन्वयवाद, ये तीनों मिलकर एक ही कार्य करते हैं और वह है व्यक्ति समष्टि के विकास में अवरोधक न बने बल्कि समझौता करके परमेष्ठी से रूप में परिणत हो जाय-परम-ज्योति बन जाय.

इस श्रेयस् एवं विशाल दृष्टिकोण को जीवन में ढालने से पूर्व वस्तु-तत्त्व के स्वरूप को समझ लेना आवश्यक है. चेतन-अचेतनमय इस जगत् की प्रत्येक वस्तु अनन्तगुण-धर्मों का अखण्ड पिण्ड है. वह कभी नहीं रही-यह नहीं कहा जा सकता. वह नहीं है—यह भी नहीं कहा जा सकता, लेकिन कहा यह जायगा कि वह थी, है और रहेगी. वृत्त, वर्तमान और वर्तिष्यमान् इन तीनों कालों में कभी भी उसका अभाव नहीं होता. अतः वस्तु सत् है, शाश्वत है, नित्य है, परन्तु कूटस्थ नित्य नहीं, अपितु परिणामी नित्य है, क्योंकि प्रत्येक वस्तु में प्रतिक्षण पूर्व पर्याय का विगम और उत्तर पर्याय का उत्पाद

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होता रहता है. अतः द्रव्यदृष्टि से पदार्थ नित्य है किन्तु विगम और उत्पाद दृष्टि से अर्थात् पर्यायदृष्टि से प्रतिक्षण बदलने वाला परिणामी है. सुवर्ण के कंकण को तोड़कर उसका कटिसूत्र बनावा डाला. हुआ क्या ? आकृति बदल गई परन्तु उसका सुवर्णत्व नहीं बदला. वह तो ज्यों का त्यों हैं. जैसा पहले था वैसा अब भी. सिद्धान्त यह रहा कि—द्रव्यं नित्यं, आकृतिः पुनरनित्या'.

प्रमाण और नय—पदार्थ को समझने की ज्ञानपद्धति दो प्रकार की है स्वार्थ और परार्थ. मति आदि रूप ज्ञानपद्धति स्वार्थरूप है और शब्दरूप पद्धति परार्थरूप है. परार्थ-पद्धति के दो भेद हैं, प्रमाण रूप और नय रूप. अनन्त धर्मात्मक वस्तु-तत्त्व के समस्त धर्मों को अथवा उसके अनेक धर्मों को ग्रहण करने वाला ज्ञान प्रमाण है और उसके किसी एक धर्म को ग्रहण करने वाला ज्ञान नय है. जैसे 'अयं घटः' यह ज्ञान प्रमाण है, क्योंकि इसमें घट के रूप, रस, गन्ध और स्पर्श का एवं लघुगुरु छोटे-बड़े आदि आकाररूप धर्मों का ज्ञान हो जाता है. 'रूपवान् घटः' यह ज्ञान नय है, क्योंकि इसमें घट के अनन्तधर्मों में से केवल एक धर्म अर्थात् रूप का ही प्रतिभास है, अन्य रस, गन्ध आदि धर्मों का नहीं. 'नयवाद' जैनदर्शन की व्यापक विचारपद्धति है. जैनदर्शन हर बात को 'नय' पद्धति से सोचता है, उसका विश्लेषण करता है. जैनदर्शन में ऐसा कोई भी सूत्र या अर्थ नहीं जो नयशून्य हो—'नत्थि नयेहिं विहूणं सुत्तं अत्थो य जिणमये किंचि.'

नय को प्रमाण माना जाय या अप्रमाण ? यह जैन दार्शनिकों के सामने एक गम्भीर प्रश्न था. यदि नय प्रमाण है तो वह प्रमाण से भिन्न क्यों है ? और यदि अप्रमाण है तो यह मिथ्याज्ञान होगा. फिर मिथ्याज्ञान का मूल्य ही क्या है ? इस का समाधान जैनदार्शनिकों ने बड़े अच्छे ढंग से किया है. वे कहते हैं—नय न तो प्रमाण है और न अप्रमाण. वह प्रमाण का एक अंश है. जैसे समुद्र का एक बिन्दु समुद्र नहीं कहा जा सकता परन्तु समुद्र का अंश तो कहा जा सकता है. प्रमाण का विषय अनेकान्तात्मक वस्तु है और नय का विषय उस वस्तु का एक अंश. यहां यह प्रश्न भी हो सकता है कि यदि नय अनन्तधर्मात्मक वस्तु के किसी एक ही अंश को ग्रहण करता है तो वह मिथ्याज्ञान ही रहेगा. फिर उससे पदार्थ का यथार्थ ज्ञान कैसे हो सकता है ? इसका समाधान आचार्यों ने असंदिग्ध भाषा में कर दिया है. वे कहते हैं—यद्यपि नय अनन्तधर्मात्मक वस्तु के एक ही धर्म को ग्रहण करता है परन्तु इतने मात्र से उसे मिथ्याज्ञान नहीं कह सकते. एक अंश का ज्ञान यदि वस्तु के अन्य अंश का निषेध करता हो तो उसे मिथ्या कह सकते हैं किन्तु जो अंशज्ञान अपने से अतिरिक्त अंश का निषेध न कर केवल अपने दृष्टिकोण को ही बताता है उसे मिथ्याज्ञान नहीं कहा जा सकता है. जो नय अपने स्वीकृत धर्म का प्रतिपादन करते हुए अपने से भिन्न धर्म का निषेध करता है वह निस्संदेह नय न होकर नयाभास या दुर्नय होता है. निरपेक्ष नय दुर्नय है और सापेक्ष नय सुनय है.

सप्तभंगी का रूप :—जैसा कि हम कह आये हैं, पदार्थज्ञान के लिए प्रमाण और नय ये दो पद्धतियाँ हैं. इन दोनों पद्धतियों का समावेश 'सप्तभंगी' में हो जाता है. सप्तभंगी का अर्थ है सात वाक्यों का समूह अर्थात् एक प्रश्न का सात ढंग से उत्तर. किसी प्रश्न का उत्तर या तो 'हाँ' में दिया जाता है या 'नहीं' में. हाँ और नहीं के औचित्य को लेकर ही 'सप्तभंगी' वाद की रचना हुई है. किसी भी पदार्थ के लिए अपेक्षा के महत्त्व को ध्यान में रखते हुए सात प्रकार के वचनों का प्रयोग किया जाता है. वे इस प्रकार हैं—

(१) कथंचित् घट है.
(२) कथंचित् घट नहीं है.
(३) कथंचित् है और नहीं है.
(४) कथंचित् घट अवक्तव्य है.
(५) कथंचित् घट है और अवक्तव्य है.
(६) कथंचित् घट नहीं है और अवक्तव्य है.
(७) कथंचित् घट है, नहीं है और अवक्तव्य है.

प्रश्न के वश से एक ही वस्तु में अविरोध रूप से विधि–प्रतिषेध की कल्पना ही 'सप्तभंगी' है. किसी भी पदार्थ के विषय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में सात प्रकार के प्रश्न हो सकते हैं. इसीलिए सप्तभंगी कही गई है. सात प्रकार के प्रश्नों का कारण है सात प्रकार की जिज्ञासा और सात प्रकार की जिज्ञासा का कारण है सात प्रकार के संशय, तथा सात प्रकार के संशयों का कारण है उसके विषय रूप वस्तु के धर्मों का सात प्रकार से होना. उपरोक्त परिभाषा से यह स्पष्ट हो जाता है कि सप्तभंगी के सात 'भंग' केवल शाब्दिक कल्पना ही नहीं किन्तु वस्तु के धर्मविशेष पर आश्रित हैं. इसलिए सप्तभंगी का विचार करते समय यह ध्यान रखना आवश्यक है कि उसके प्रत्येक भंग का स्वरूप वस्तु के धर्म के साथ संबद्ध हो. यदि किसी भी पदार्थ का कोई भी धर्म दिखलाया जाना जरूरी हो तो उसे इस प्रकार दिखलाया जाना चाहिये जिससे कि उन धर्मों का स्थान उस वस्तु में से विलुप्त न हो जाए. जैसे कि आप घट में नित्यत्व का स्वरूप बतलाना चाहते हैं तो आपको घट के नित्यत्व का बोध करवाने के लिए ऐसे उपयुक्त शब्द का प्रयोग करना चाहिये जो घट का नित्यत्व तो बताता ही हो किन्तु उसके अनित्यत्व आदि अन्य धर्मों का विरोध न करता हो. यह कार्य सप्तभंगी द्वारा ही हो सकता है.

शंका—भंग सात ही नहीं किन्तु अधिक भी हो सकते हैं—जैसे कि प्रथम और तृतीय विकल्पों का एक साथ उल्लेख करने से नया भंग बन सकता है. इसी तरह सातों भंगों में से एक दूसरे के साथ दो-दो या तीन-तीन भंग के जोड़ने से और भी नवीन भंग बन सकते हैं ?

उत्तर—प्रथम और तृतीय धर्म को मिलाने से उत्पन्न नवीन भंग के अनुसार नवीन वाच्य पदार्थ की प्रतीति लोक में नहीं पाई जाती. इसी प्रकार अन्य भंग के लिए भी समझना चाहिये. ऐसी अवस्था में सात से अधिक भंगों की उत्पत्ति का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता.

इस प्रकार एक धर्म के आधार से सात ही भंग बनते हैं, किन्तु पदार्थ अनन्तधर्मात्मक है, अतः अनन्त सप्तभंगियाँ भी बन सकती हैं, किन्तु भंगों की मर्यादा सात ही है.

शंका—माना कि सप्तभंग से अधिक भंग नहीं हो सकते किन्तु उनसे कम तो हो सकते हैं ? क्योंकि जो घट स्वरूप से सत् है वही अन्य पटादि रूप से असत् भी है, इसलिए 'स्यादस्त्येव' तथा 'स्यान्नास्त्येव' ये दो धर्म नहीं घटित हो सकते. इन दोनों का एक दूसरे में समावेश हो जाता है. अतः इन दो भंगों में से किसी एक ही भंग को मान लो. दूसरे की आवश्यकता नहीं.

समाधान—यह कथन अयोग्य है क्योंकि सत्त्व और असत्त्व दोनों एक दूसरे से भिन्न हैं. जो सत्त्व है वह असत्त्व नहीं हो सकता और जो असत्त्व है वह सत्त्व नहीं हो सकता. ऐसी स्थिति में दोनों को अलग-अलग ही मानना चाहिये. अगर इन्हें एक दूसरे से अलग नहीं माना जायगा तो स्वरूप से सत्त्व ग्रहण के सदृश पर रूप से भी सत्त्व मानने का प्रसंग आजायगा. और पर रूप से असत्त्व की तरह स्वरूप से भी असत्त्वग्रहण का प्रसंग आजायगा. साथ ही बौद्ध लोग जो त्रिरूप हेतु तथा नैयायिक पंचरूप हेतु मानते हैं वे भी सत्त्व और असत्त्व की अपेक्षा से ही मानते हैं. अर्थात्-हेतु का सपक्ष में पाया जाना यह सत्त्व की अपेक्षा से और विपक्ष में न पाया जाना यह असत्त्व की अपेक्षा से माना है. उन्होंने भी सत्त्व और असत्त्व को भिन्न-भिन्न ही माना है. यदि ऐसा न मानकर सत्त्व और असत्त्व में से किसी एक को ही मानते तो त्रिरूप व पंचरूप हेतु की हानि होती अतः उनके सिद्धान्त से भी सत्त्व का भेद ही सिद्ध होता है.

शंका—सत्त्व और असत्त्व को भले ही भिन्न-भिन्न मान लें किन्तु सत्त्वासत्त्व स्वरूप तीसरे भंग को अलग मानने की क्या आवश्यकता ? क्यों कि जैसे घट और पट इन दोनों को अलग-अलग कहने पर या एक साथ उभय रूप से घट-पट कहने पर भी घट-पट का ही ज्ञान होता है, भिन्न ज्ञान नहीं होता है, अतः 'स्यादस्ति और स्याद् नास्ति' मानने के बाद तीसरा भंग अस्ति नास्ति मानना व्यर्थ है.

समाधान—प्रत्येक की अपेक्षा उभयरूप समुदाय का भेद अनुभवसिद्ध है. जैसे भिन्न घ और ट की अपेक्षा से समुदाय रूप 'घट' इस पद को सब वादियों ने भिन्न माना है. यदि भिन्न नहीं माना जाय तो 'घ' इतना कहने मात्र से ही 'घट' का बोध हो जाना चाहिये. जिस प्रकार प्रत्येक पुष्प की अपेक्षा से माला कथंचित् भिन्न है उसी प्रकार क्रमार्पित 'उभय-रूप-सत्त्व असत्त्व', 'सत्त्व' और 'असत्त्व' की अपेक्षा से कथंचित् भिन्न ही हैं.

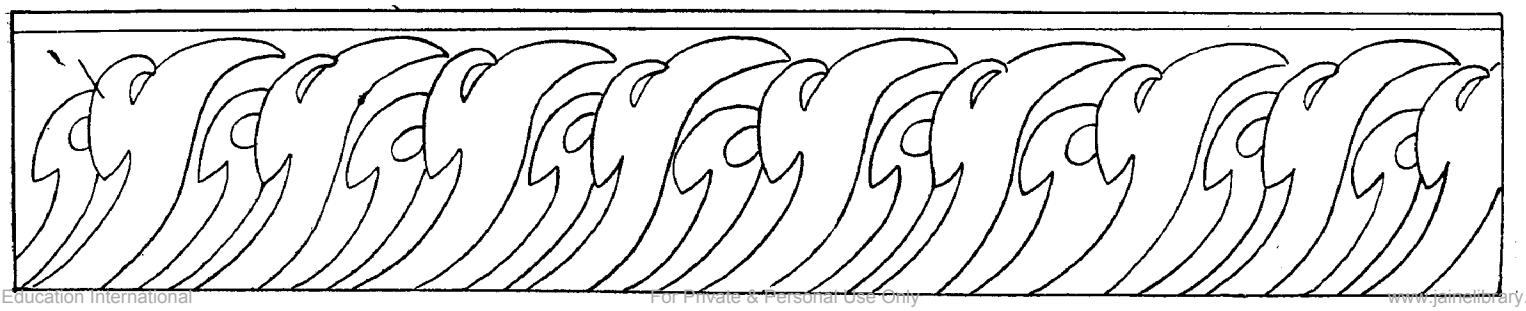

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रश्न—क्रम से योजित सत्त्व-असत्त्व उभयरूप की अपेक्षा से सहयोजित सत्त्व-असत्त्व इस उभयरूप का भेद कैसे सिद्ध हो सकता है ?

उत्तर—क्रम से योजित कल्पना सहयोजित कल्पना से भिन्न ही है, क्योंकि पूर्व कल्पना में पदार्थ की पर्यायें क्रम से कही जाती हैं, जबकि उत्तर कल्पना में युगपद् उन पर्यायों का कथन है. यदि भेद नहीं माना जायगा तो पुनरुक्ति दोष की संभावना रहेगी. क्योंकि एक वाक्य जन्य जो बोध है, उसी बोध के समान बोधजनक यदि उत्तर काल का वाक्य हो तो यही पुनरुक्ति दोष है. यहाँ पर क्रम से योजित तृतीय भंग है और अक्रम से योजित चतुर्थ भंग है. तृतीय भंग के द्वारा उत्पन्न ज्ञान-विकल्प, अस्तित्व के साथ नास्तित्व रूप स्थिति को बतलाता है. इस प्रकार से स्वयंसिद्ध है कि तृतीय और चतुर्थ भंग से उत्पन्न ज्ञानों में समान-आकारता नहीं है, अतः दोनों भंग अलग-अलग ही हैं.

प्रश्न—भंग सात ही नहीं किन्तु नौ होते हैं. जैसे तृतीय भंग में रहे हुये 'अस्तित्व-नास्तित्व' के क्रम का परिवर्तन कर देने से 'नास्तित्व-अस्तित्व' रूप नया भंग बन जायगा. इसी प्रकार सातवें भंग में प्रदर्शित क्रम को भी पलट दिया जाय अर्थात् 'स्यादस्ति नास्ति च अवक्तव्यः' के स्थान में 'स्यान्नास्ति अस्ति च अवक्तव्य' बना दिया जाय तो एक और नया भंग बन जाता है. इस प्रकार भंगों की संख्या नौ हो जाएगी. नूतन बने हुए भंगों में तीसरे और सातवें भंग की पुनरावृत्ति नहीं कही जा सकती है, क्योंकि अस्तित्वविशिष्ट नास्तित्व का बोध तृतीय भंग से होता है. जबकि नवीन भंग से नास्तित्वविशिष्ट अस्तित्व का बोध होता है विशेषण-विशेष्यभाव की विपरीतता हो गई है, जो विशेषण था वह विशेष्य बन गया है और जो विशेष्य था वह विशेषण बन गया है, यही बात सातवें भंग के संबंध में भी नूतन भंग के साथ समझना चाहिये. अर्थात् उसमें भी क्रम बदल गया है, विशेषण-विशेष्यभाव की विपरीतता आ गई है. अतः भंग सात नहीं किन्तु नव बनते हैं ?

उत्तर—उपरोक्त शंका में केवल समझ का ही फेर है. वह इस प्रकार है—तृतीय भंग में रहे हुए 'अस्तित्व और नास्तित्व' दोनों ही धर्म स्वतंत्र हैं. परस्पर सापेक्ष रूप से रहे हुए नहीं हैं. इसीलिये प्रधानता होने के कारण से ही पदार्थ में अवक्तव्यता धर्म की उत्पत्ति होती है, तदनुसार विशेषण विशेष्य जैसी कोई स्थिति नहीं है. किन्तु पर्यायों में भूतकालीन-भविष्यत्कालीन और वर्तमानकालीन दृष्टिकोण से ही अस्तित्व, नास्तित्व और अवक्तव्यत्व जैसे वाचक शब्दों की आवश्यकता पड़ती है. अवक्तव्यत्व रूप धर्म अस्ति नास्ति से विलक्षण पदार्थ है. सत्त्व मात्र ही वस्तु का स्वरूप नहीं है और केवल असत्त्व भी वस्तु का स्वरूप नहीं है. सत्त्व-असत्त्व ये दोनों भी वस्तु का स्वरूप नहीं हैं, क्योंकि उभय से विलक्षण अन्य जातीय रूप से भी वस्तु का होना अनुभवसिद्ध है. जैसे दही, शक्कर, काली मिरच, इलायची, नागकेशर तथा लवंग के संयोग से एक नवीन जाति का पेय-रस तैयार हो जाता है, जो कि उपरोक्त प्रत्येक पदार्थ से स्वाद में और गुण में एवं स्वभाव में भिन्न ही बन जाता है. फिर भी सर्वथा भिन्न नहीं कहा जा सकता है और न सर्वथा अभिन्न भी कहा जा सकता है, एवं सर्वथा अवक्तव्य भी नहीं कहा जा सकता है. इस प्रकार सातों ही भंगों में परस्पर में विलक्षण अर्थ की स्थिति समझ लेना चाहिये. अतएव पृथक्-पृथक् स्वभाव वाले सातों धर्मों की सिद्धि होने से उन-उन धर्मों के विषयभूत संशय, जिज्ञासा आदि क्रमों की श्रेणियाँ भी सात-सात प्रकार की होती हैं, इस प्रकार प्रत्येक धर्म के विषय में सात-सात भंग होते हैं.

सकलादेश और विकलादेश—यह सप्तभंगी दो प्रकार की है—एक प्रमाणसप्तभंगी और दूसरी नय-सप्तभंगी. प्रमाण-वाक्य को सकलादेश वाक्य अर्थात् सम्पूर्णरूप से पदार्थों का ज्ञान कराने वाला वाक्य कहते हैं और नयवाक्य को विकलादेश अर्थात् एक अंश से पदार्थों का ज्ञान करानेवाला वाक्य कहते हैं.

प्रश्न—आपने प्रमाण और नय-सप्तभंगी के भी सात-सात भेद माने हैं किन्तु सात-सात भेद एक-एक के नहीं सिद्ध होते हैं क्योंकि प्रथम द्वितीय व चतुर्थ भंग वस्तु के एक धर्म को ही बताते हैं अतः ये तीन भंग नयवाक्य या विकलादेश रूप हैं और तृतीय, पंचम, षष्ठ और सप्तम भंग वस्तु के अनेक धर्मों का बोध करानेवाले होने से प्रमाणवाक्य या सकलादेश रूप हैं.

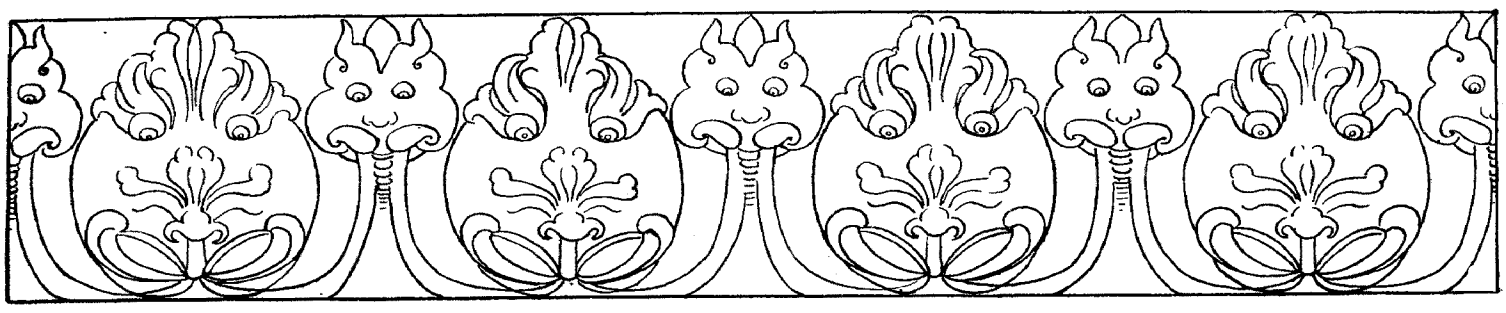

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्तर—यह कथन अयोग्य है, क्योंकि ऐसा मानने पर तो स्याद्वाद-सिद्धान्त का विरोध होगा.

प्रश्न—अन्य लोग यह शंका करते हैं कि सप्तभंगी के सप्तवाक्य अलग-अलग तो विकलादेश रूप ही हैं किन्तु सातों मिल कर सकलादेश रूप हैं.

उत्तर—पृथक्-पृथक् वाक्य सम्पूर्ण अर्थों के प्रतिपादक नहीं होने से विकलादेश हैं, यह कथन अयुक्त है; क्योंकि ऐसा मानने पर तो सातों वाक्य भी विकलादेश हो जावेंगे. कारण सातों वाक्य मिलकर भी सम्पूर्ण अर्थ के प्रतिपादक नहीं हो सकते. सम्पूर्ण अर्थप्रतिपादक तो सकलश्रुतज्ञान ही हो सकता है. सिद्धान्त के ज्ञाता तो यह कहते हैं कि अनन्त-धर्मात्मक सम्पूर्ण वस्तु के बोध कराने वाले वाक्य को सकलादेश और एक धर्मात्मक वस्तु का बोध कराने वाले वाक्य को विकलादेश कहते हैं. कहने का तात्पर्य यह है कि सकलादेश की दृष्टि में पदार्थ अनन्त गुण रूप है, जब कि विकलादेश की दृष्टि में पदार्थ एक गुण रूप है. सकलादेश समष्टि रूप है, जब कि विकलादेश व्यष्टि रूप है. परन्तु दोनों ही अपेक्षा पूर्वक पदार्थ की विवेचना करते हैं.

'एव' पद की सार्थकता—इन सप्तभंगों में अन्य धर्मों का निषेध नहीं करके विधि-विषयक अर्थात् सत्ता के विषय में बोध उत्पन्न कराने वाला वाक्य प्रथम भंग है. जैसे : 'स्यात् अस्ति एव घटः.' इसी प्रकार अन्य धर्म का निषेध न करके निषेध-बोध-जनक वाक्य द्वितीय भंग है. जैसे : 'स्यात् नास्ति एव घटः.' 'स्यादस्त्येव' में अस्ति के बाद 'एव' लगाने का अर्थ यही है कि प्रत्येक पदार्थ स्वरूप की अपेक्षा से अस्तित्त्व रूप ही है न कि नास्तित्वरूप. स्वरूप की अपेक्षा से नास्तित्व का निषेध करने के लिए ही 'एव' शब्द लगाया गया है. बौद्धदर्शन का कथन है कि सभी शब्दों में अन्य से व्यावृत्ति कराने की शक्ति होने से घट-पट आदि शब्दों द्वारा घट से भिन्न अथवा पट से भिन्न पदार्थों की व्यावृत्ति हो जाया करती है. अतः अवधारणवाचक 'एव' शब्द का प्रयोग करना व्यर्थ है.

उत्तर—सामान्यतः शब्द विधि रूप से ही अर्थ का बोध कराते हैं. किन्तु संशय, अनिश्चय, अव्याप्ति, अतिव्याप्ति आदि दोषों की निवृत्ति के लिए एवं अन्य की व्यावृत्ति के लिए 'एव' शब्द का प्रयोग अनिवार्य है. यह अवधारणवाचक 'एव' तीन प्रकार का होता है—

१—अयोगव्यवच्छेदबोधक अर्थात् धर्म-धर्मी के संबंध को समान अधिकरण रूप से बतानेवाला, एवं धर्म-धर्मी की एकाकारता, एकत्र-स्थिति-धर्मता अथवा एकरूपता बताने वाला 'एव' अयोग-व्यवच्छेदबोधक कहलाता है.

२—अन्ययोगव्यवच्छेदबोधक—अर्थात् अधिकृत पदार्थ में इष्ट धर्मों के अतिरिक्त अन्य पदार्थों का अथवा अन्य पदार्थों के धर्मों का अस्तित्व नहीं है, इस प्रकार दूसरे के संबंध की निवृत्ति का बोधक 'एव' शब्द अन्ययोगव्यवच्छेदबोधक है.

३—अत्यन्तायोगव्यवच्छेदबोधक—अर्थात् अत्यन्त असंबंध की व्यावृत्ति का ज्ञान करानेवाला 'एव' शब्द अत्यन्तायोग-व्यवच्छेदबोधक है. यह दोषपूर्ण संबंधों की एवं इतर संबंधों की भी सर्वथा व्यावृत्ति करता है.

(१) यही 'एव' शब्द विशेषण के साथ लगा हुआ हो तो 'अयोग' की निवृत्ति का बोध कराने वाला होता है. जैसे : शंखः पाण्डुः एव—शंख सफेद ही है. यहाँ पर शंख में सफेद धर्म का ही विधान उसके असंबंध की व्यावृत्ति के लिए है.यही अयोगनिवृत्ति है.

(२) 'एव' शब्द विशेष्य के साथ लगा हो तो 'अयोग व्यवच्छेद रूप' अर्थ का बोध कराता है. जैसे कि पार्थ एव धनुर्धरः' अर्थात् धनुष्यधारी पार्थ ही है. इस उदाहरण से पार्थ के सिवाय अन्य व्यक्तियों में धनुर्धरत्व का व्यवच्छेद किया गया है.

(३) यदि क्रिया के साथ 'एव' लगा हुआ हो तो वह 'अत्यन्तायोग के व्यवच्छेद का बोधक होता है. जैसे : 'नीलं सरोजं भवत्येव—कमल नीला भी होता है. यहाँ पर इतर वर्णों का निषेध न करते हुए नीलत्व धर्म का विधान भी है.

'स्यात्' शब्द का प्रयोजन—सप्त-भंगी वाक्य-रचना में जितना 'एव' शब्द का महत्त्व है उतना ही 'स्यात्' शब्द का भी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महत्त्व है. अनेकान्त, विधि, विचार आदि अनेक अर्थों में 'स्यात्' शब्द का प्रयोग होता है किन्तु यहाँ पर केवल अनेकान्त के अर्थ में ही 'स्यात्' शब्द का प्रयोग किया है. अनेकान्त अर्थात् अनेक धर्म स्वरूप.

प्रश्न—'स्यात्' शब्द से ही जब अनेक धर्म-स्वरूप घट आदि पदार्थों का बोध हो जाता है, तब अस्तित्व आदि शब्दों की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर—'स्यात्' शब्द से अनेकान्त रूप अर्थ का सामान्य रूप से बोध होने पर भी विशेष रूप से अर्थ का बोध कराने के लिए वाक्य में अस्तित्व आदि अन्य शब्द का प्रयोग करना भी आवश्यक है. अतः विवक्षित अर्थ का निश्चयपूर्वक ज्ञान करने के लिए जैसे 'एव' शब्द लगाना अनिवार्य है वैसे ही सर्वथा एकान्त पक्ष की व्यावृत्तिपूर्वक अनेकान्त रूप अर्थ का ज्ञान करने के लिए 'स्यात्' शब्द का जोड़ना अनिवार्य है.

प्रश्न—जो घट आदि पदार्थ हैं, वे सभी अपने-अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से अस्तित्व रूप ही हैं, न कि अन्य पदार्थ से संबन्धित. द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के कारण से अस्ति रूप हैं. क्योंकि अन्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि की निवृत्ति तो अप्रसंग होने से अपने आप ही हो जाती है. ऐसी अवस्था में 'स्यात्' शब्द जोड़ना निरर्थक है.

उत्तर—किसी दृष्टिकोण से यह सत्य हो सकता है परन्तु जिस पदार्थ का विवेचन किया जा रहा है उसमें रही हुई अनेकान्तात्मक स्थिति किस शब्द से प्रगट होगी ? यह जानने के लिए और बतलाने के लिए एवं वस्तुस्थिति को ठीक समझने के लिए 'स्यात्' शब्द जोड़ना जरूरी है. इसके सिवाय प्रत्येक द्रव्य में द्रव्यत्व अभेदवृत्ति से रहता है, तथा पर्यायें भी अभेद के उपचार से द्रव्य के ही आश्रित होती हैं. इस प्रकार द्रव्य अनेकान्त रूप वाला होता है. यह स्थिति 'स्यात्' शब्द से प्रतीत होती है. अतः सकलादेश सप्तभंगी और विकलादेश सप्तभंगी में 'स्यात्' शब्द जोड़ना अनिवार्य है.

क्रम और यौगपद्यः—सकलादेश प्रमाणात्मक वाक्यप्रणाली है और विकलादेश नयात्मक वाक्यप्रणाली. सकलादेश प्रणाली घटादि रूप पदार्थ को सामूहिक रूप से पदार्थ में स्थित सभी धर्मों को एक रूप से काल आदि आठ द्वारों द्वारा अभेद वृत्ति से और अभेद रूप उपचार से विषय करती है. जबकि विकलादेश प्रणाली काल आदि आठों द्वारों द्वारा भेद-वृत्ति से और भेद रूप उपचार से पदार्थ में स्थित अनेक धर्मों में से किसी एक धर्म को ही अपेक्षा द्वारा वर्णन करती है.

प्रश्न—क्रम और यौगपद्य से आपका क्या तात्पर्य है?

उत्तर—प्रत्येक पदार्थ में अस्तित्व और नास्तित्व आदि अनेक धर्म हैं, उनका वर्णन देश काल आदि की अपेक्षा से जब करना हो तब केवल अस्तित्व आदि किसी एक शब्द के द्वारा उस पदार्थ में स्थित अनेक धर्मों का एक साथ वर्णन नहीं किया जा सकता है और न एक शब्द द्वारा ही उन सब धर्मों का वर्णन हो सकता है. अतः निश्चित पूर्वापरभाव प्रणाली द्वारा अथवा अनुक्रम शैली द्वारा उस पदार्थ का वर्णन करना क्रमपद्धति है. क्रमपद्धति से विपरीत यौगपद्य है. पदार्थ में स्थित अस्तित्वादि अनेक धर्मों की काल आदि कारणों से जब एकरूपता बतलाई जाती हो, तथा केवल एक शब्द के आधार से धर्मविशेष का कथन करके उसी में शेष धर्मों की स्थिति समझ ली जाती हो, इस प्रकार का प्रतिपादन एक समय में भी सम्भव है. इस तरह का जो वस्तु-स्वरूप का निरूपण है वही यौगपद्य है.

काल आदि आठ द्वारः—१ काल, २ आत्मरूप ३ अर्थ ४ सम्बन्ध, ५ उपकार ६ गुणिदेश, संसर्ग और ८ शब्द, इन आठ द्वारों से वस्तु के किसी एक धर्म से शेष धर्मों का अभेद माना जाता है.

(१) "अस्ति एव घटः— यहाँ पर जिस काल में घट द्रव्य में अस्तित्व धर्म रहता है, उसी काल में शेष अनन्त धर्म भी घट में रहे हुए होते हैं. इस प्रकार एक काल-अवस्थिति की दृष्टि से शेष अनन्त धर्मों को अस्तित्व धर्म से अभिन्न मानना काल से अभेदवृत्ति है.

(२) जैसे घट में 'अस्तित्व' नामक गुण उसका स्वरूप बनकर रहता है, वैसे ही अन्य अनेक गुण—जैसे कालापन आदि भी घट के स्वरूप बनकर रहते हैं. यही 'एक स्वरूपत्व' नामक आत्मरूप दूसरा द्वार है जिसके द्वारा अभेदवृत्ति नामक ज्ञानप्रणाली उत्पन्न होती है.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(३) जैसे 'अस्तित्व' नामक गुण का घट द्रव्य आधार है वैसे ही अन्य अनन्त धर्मों का आधार भी वही घट द्रव्य है. अतः अर्थ की दृष्टि से अस्तित्व और अन्य गुणों में अभेदवृत्ति है

(४) जैसे अस्तित्व नामक गुण का घट द्रव्य के साथ सम्बन्ध है वैसे ही अन्य गुणों का भी उसके साथ सम्बन्ध है, अतः सम्बन्ध की दृष्टि से भी अस्तित्व और अन्य गुणों में अभेदवृत्ति है.

(५) जैसे अस्तित्व नामक गुण पदार्थ के प्रति सत्ता के प्रदर्शन में और अपनी विशिष्टता के सम्पादन में सहायता करता है, वैसे ही अन्य गुण भी अस्तित्व की तरह अपनी अपनी क्रियारूप सहायता करते हैं और पदार्थ की विशिष्टता के सम्पादन में सहयोग प्रदान करते हैं . अतः गुणों की 'उपकार' वृत्ति समान होने से उपकारदृष्टि से भी अभेदवृत्ति पाई जाती है.

(६) जैसे अस्तित्व नामक गुण घट द्रव्य के जिस क्षेत्र में रहता है उसी क्षेत्र में अन्य शेष धर्म भी रहते हैं. अतः अस्तित्व की तरह अन्य धर्म भी एक ही देश में रहने वाले होने से गुणिदेश की अपेक्षा से अभेदवृत्ति है.

(७) जैसे—'अस्तित्व' नामक गुण का घट द्रव्य के साथ संसर्ग है वैसा ही शेष अनन्त धर्मों का भी एक ही वस्तुत्व स्वरूप से उसी घट के साथ संसर्ग है. वह संसर्गदृष्टि से अभेदवृत्ति हुई.

प्रश्न—संबंध और संसर्ग पर्यायवाची जैसे शब्द प्रतीत होते हैं, अतः इनमें परस्पर में क्या अन्तर है ?

उत्तर—जहाँ अभेदवृत्ति की प्रधानता हो और भेदवृत्ति की गौणता हो, वह 'सम्बन्ध' अभेदवृत्ति है और जहाँ भेद-वृत्ति की प्रधानता और अभेदवृत्ति की गौणता हो वह संसर्ग अभेदवृत्ति है. अर्थात् भेद की गौणता और अभेद की प्रधानता 'संबंध' है. जबकि अभेद की गौणता और भेद की प्रधानता 'संसर्ग' है.

(८) यह 'है' ऐसा शब्द जैसे अस्तित्व गुण वाले घट पदार्थ का वाचक है, वैसे ही शेष अनन्त गुणों वाले घट पदार्थ का वाचक भी यही है. इस प्रकार सभी गुणों की एक शब्द द्वारा वाचकता सिद्ध करने वाली 'शब्द' नामक अभेद वृत्ति है.

द्रव्यार्थिक नय की गौणता और पर्यायार्थिक नय की प्रधानता होने पर इस प्रकार के गुणों की अभेदवृत्ति की संभावना नहीं होती, जैसे—

(१) एक ही पदार्थ में परस्पर विरोधी अनेक गुणों की स्थिति एक साथ में होना असंभव है, क्योंकि प्रत्येक क्षण में वस्तु का परिवर्त्तन होता रहता है. वह कालकृत भिन्नता है.

(२) नाना गुणों का स्वरूप परस्पर में भिन्न होता है. अतः आत्मरूप अभेदवृत्ति परस्पर की भिन्नता में नहीं पाई जाती है.

(३) अपने आश्रय रूप अर्थ (पदार्थ) अनेक रूप होता हुआ पदार्थ रूप से सभी गुणों के लिए भिन्न-भिन्न रूपवाला ही है, क्योंकि परस्पर में विरोधी गुणों का एकत्र होना असंभव है. इस प्रकार अर्थ रूप से भिन्नता होती है.

(४) संबंधी के भेद से संबन्ध का भी भेद देखा जाता है, अतः संबंध से भी अभेदवृत्ति नहीं दिखाई देती है.

(५) अनेक गुणों द्वारा किए हुए वा क्रियमाण, उपकार भी अनेक हैं, अतः उपकार से भी अभेदवृत्ति नहीं दिखाई देती.

(६) प्रत्येक गुण की अपेक्षा से गुणी के देश का भी भेद माना गया है. अतः गुणिदेश की अपेक्षा से भी भेदवृत्ति ही सिद्ध होती है.

(७) संसर्ग की भिन्नता से संसर्गी में भी भिन्नता आ जाती है, अतः संसर्ग की दृष्टि से भी भेदवृत्ति सिद्ध होती है.

(८) अर्थ के भेद होने से शब्द का भी भेद अनुभवसिद्ध है. यदि शब्दभेद नहीं मानोगे तो वाच्य का अर्थभेद कैसे प्रतीत होगा ? अतः शब्द से भी भेदवृत्ति सिद्ध होती है. इस प्रकार पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से कथंचित् भेद-रूप वर्णन होने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से आठों द्वारों द्वारा भेद प्रणाली की ही मुख्यता होती है. किन्तु द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से कथंचित् अभेद रूप से वर्णन होने से उपरोक्त प्रकारों द्वारा अभेदप्रणाली की ही मुख्यता रहती है.

प्रत्येक पदार्थ अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से अस्तिरूप है. और पर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से नास्तिरूप है. द्रव्य से द्रव्यत्व कथंचित् भिन्न है और कथंचित् अभिन्न है. द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से अभिन्न है और पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से भिन्न है.

भंग सात ही क्यों ?—(१) 'स्यात् अस्ति एव घटः' इस प्रथम भंग में पदार्थ की विवेचना 'सत्ता' रूप से की गई है. इस में यह बताया गया है कि–पदार्थ अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से अस्ति रूप है.

(२) 'स्यात् नास्ति एव घटः' इस द्वितीय भंग में पदार्थ की विवेचना 'नास्ति' रूप से की गई है. इसमें यह प्रदर्शित किया गया है कि सभी पदार्थ पर की अपेक्षा से नास्ति रूप ही होते हैं. यदि पर की अपेक्षा से पदार्थ को नास्ति रूप नहीं मानेंगे तो सभी पदार्थों के सर्वात्मक होने का प्रसंग आ जायगा. और इस प्रकार पदार्थों के प्रति अव्यवस्था दोष उत्पन्न हो जायगा. अतः उपरोक्त दोनों भंगों की पदार्थ की वास्तविक विवेचना के लिए आवश्यकता है.

(३) 'स्यात् अस्ति च स्यात् नास्ति च घट'. इस तृतीय भंग में अस्तित्व-नास्तित्व की विवेचना क्रम से बतलाई गई है. इसमें 'घट' विशेष्य है और क्रम से योजित विधि एवं प्रतिषेध विशेषण रूप हैं.

(४) 'स्यात् अवक्तव्य एव घटः' इस चौथे भंग में पदार्थ की विवेचना में 'सहअर्पित' याने दोनों स्थितियां साथ-साथ योजित रूप से बतलाई गई हैं. 'सह अर्पित' अवस्था में स्व की अपेक्षा से और पर की अपेक्षा से घट 'अस्तिरूप' भी होता है, और 'नास्तिरूप' भी होता है. ऐसी दशा में किसी भी शब्द द्वारा उसका विवेचन कर सकना असंभव होता है. क्योंकि शब्दशास्त्र में ऐसा कोई शब्द नहीं है, जोकि एक साथ पदार्थ की अस्तित्व और नास्तित्व दोनों ही स्थितियां बतला सके, अतः शब्दाभाव के कारण इसे 'अवक्तव्य' कहा गया है.

प्रश्न—अनेकान्तवाद छल मात्र है. क्योंकि इसमें नित्यता अनित्यता, अस्तित्व नास्तित्व आदि परस्पर विरोधी सिद्धांतों की विवेचना की जाती है, जो प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा अप्रमाणित ठहरते हैं.

उत्तर—अन्य अभिप्राय से कहे गये शब्द का अन्य ही अर्थ करना छल है. जैसे 'नवकंबलोऽयम् देवदत्तः' का अर्थ बदल कर पूछना कि—कहाँ हैं देवदत्त के पास नौ कम्बल ? यह छल का लक्षण अनेकान्त में घटित नहीं होता.

प्रश्न—अस्ति नास्ति आदि नाना धर्मों का प्रतिभास होने से अनेकांतवाद को संशयवाद क्यों नहीं कहा जा सकता ?

उत्तर—सामान्य अंश के प्रत्यक्ष और विशेष अंश के अप्रत्यक्ष होने से ही संशय उत्पन्न होता है किन्तु अनेकान्तवाद में तो विशेष अंशों (धर्मों) की उपलब्धि होती है, अतः अनेकान्तवाद संशयवाद नहीं हो सकता.

अन्य दार्शनिकों ने भी अपने सिद्धांतों की सिद्धि के लिए अनेकान्तवाद का ही आश्रय लिया है. सांख्यों की मान्यता है कि प्रकृति सत्त्व रजस् और तमोगुणमयी है. इस प्रकार परस्पर विरोधी गुणों का अस्तित्व एक प्रकृति में माना है. यह मान्यता अनेकान्तवाद के आधार से ही हो सकती है, अन्यथा नहीं.

नैयायिक भी द्रव्य आदि पदार्थों को सामान्य-विशेष रूप स्वीकार करते ही हैं. द्रव्य में अनुवृत्ति तथा व्यावृत्त स्वभाव है, अतः वह सामान्य-विशेष स्वरूप है. पृथ्वी द्रव्य है, तेज द्रव्य है, वायु द्रव्य है, इस प्रकार द्रव्य में द्रव्यत्व सामान्य भी है और विशेष तथा गुण कर्म आदि भी हैं. इस प्रकार नैयायिक भी अनेकान्तवाद के विना वस्तु में सामान्य और विशेष का रहना सिद्ध नहीं कर सकते. बौद्ध मेचक मणि के ज्ञान को एक किन्तु अनेकाकार मानते हैं. इस प्रकार बौद्ध मत में भी ज्ञान एक-अनेक रूप है. अतः वे भी स्याद्वाद का आश्रय लेते हैं. चार्वाक भी पृथ्वी तेज जल और वायु से एक चैतन्य तत्त्व की उत्पत्ति मानते हैं. इस प्रकार वे अनेक में एक का सद्भाव मानकर स्याद्वाद की ही शरण ग्रहण करते हैं. मीमांसक भी प्रमाता, प्रमिति तथा प्रमेयाकार को एक ज्ञान रूप ही मानते हैं. इस प्रकार उन्होंने भी अनेकों को एक रूप में ही स्वीकार किया है.

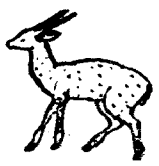

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org